# जैन इतिहास- एक झलक

किसी भी धर्म के मूल सिद्धान्तों को समझने के पूर्व उसके उद्भव और विकास की कहानी की जिज्ञासा उठनी स्वाभाविक है। उक्त जिज्ञासाएँ जहाँ उस धर्म/संस्कृति की निर्मल परम्परा का बोध कराती हैं, वहीं अनेक प्रकार के ऐतिहासिक सत्य को भी अनावृत करती हैं। प्रत्येक धर्म का अपना इतिहास है, उसके उद्भव और विकास की एक लम्बी कथा है, जो अपने-अपने प्रवर्तकों/प्रचारकों से सम्बद्ध है, जहाँ तक जैन धर्म के इतिहास की बात है इस सम्बन्ध में एक लम्बी कालावधि तक भ्रमपूर्ण स्थिति रही है। कोई इसे बौद्ध धर्म की शाखा समझते हैं तो कोई इसे वैदिक क्रियाकाण्डों के विरोध में उत्पन्न हुआ धर्म मानते हैं। कोई भगवान् महावीर को इसका संस्थापक मानने की भूल में हैं, तो कोई इसके उद्भव का सम्बन्ध भगवान् पार्श्वनाथ से जोड़ते हैं। भारतीय इतिहास के क्षेत्र में हुए अधुनातन अन्वेषणों ने उक्त मान्यताओं का निराकरण कर जैन धर्म की प्राचीनता को संपुष्ट किया है।

जैन मान्यता के अनुसार जैन धर्म अनादि से है, जो समय-समय पर उत्पन्न होनेवाले चौबीस तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित होता रहा है। चौबीस तीर्थंकरों की यह परम्परा अनन्तकालीन है। इस युग में जैन धर्म का प्रवर्तन भगवान् ऋषभदेव ने किया था। इसके प्रमाण स्वरूप पुरातात्त्विक सामग्री, ऐतिहासिक अभिलेख एवं साहित्यिक सन्दर्भ उपलब्ध है। इन्हीं के आधार पर अनेक प्राच्य व पाश्चात्य विद्वानों ने अपने गवेषणात्मक निष्कर्षों में यह बात स्थापित की है कि जैन धर्म प्रागैतिहासिक/प्राग्वैदिक धर्म है। इसके आद्य प्रवर्तक ऋषभदेव रहे हैं। इस अध्याय का प्रयोजन जैन इतिहास की संक्षिप्त प्रस्तुति के साथ उसकी प्राचीनता को दिग्दर्शित करना है।

Scanned with OKEN Scanner

## जैन परम्परागत इतिहास

जैन अनुश्रुतियाँ भारत का इतिहास उस समय से प्रस्तुत करती हैं, जब आधुनिक नागरिक सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। उस समय व्यक्ति प्राय: जंगलों में रहते थे। मनुष्य ग्राम व नगरों में नहीं बसते थे। लोग न खेती करना जानते थे, न पशु-पालन, न ही कोई उद्योग-धन्धे। उस समय के लोग अपने खान-पान आदि समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति प्राकृतिक कल्पवृक्षों से कर लिया करते थे। (इच्छित/कल्पित आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने से ही इन्हें कल्पवृक्ष कहा जाता था) उस समय न कोई समाज-व्यवस्था थी, न ही पारिवारिक सम्बन्ध। माता-पिता युगल पुत्र-पुत्री को जन्म देकर दिवंगत हो जाते थे। पुराणकारों ने उक्त व्यवस्था को भोग-भूमि-व्यवस्था कहा है। धीरे-धीरे उक्त व्यवस्था में परिवर्तन हुआ और उस युग का आरम्भ हुआ जिसे पुराणकारों ने कर्मभूमि कहा है। इसे हम आधुनिक सभ्यता का प्रारम्भ भी कह सकते हैं। कल्पवृक्षों से फल प्राप्ति में कमी आने लगी। फलत: लोग एक-दूसरे से झगड़ने लगे। शीत-तुषारादि की बाधाएँ सताने लगीं। जंगली पशुओं का आतंक बढ़ने लगा। उस समय क्रमश: चौदह कुलकर हुए, जिन्होंने तत्कालीन समस्याओं का समाधान कर समाज को नई व्यवस्था दी। ये कुलकर ही मानव सभ्यता के सूत्रधार थे। कुलकारों ने प्राकृतिक परिवर्तन से चकित और चिन्तित मानव समूह को प्रकृति का रहस्य बताया। उन्होंने मानव और प्रकृति के सम्बन्धों को उद्घाटित कर मनुष्य को जीने की कला सिखायी एवं समाज का ढाँचा तैयार कर विवेक एवं विचार की शिक्षा दी। जैन परम्परा में कुलकरों का वही स्थान है जो वैदिक परम्परा में मनुओं का। मनुओं की संख्या भी चौदह बतायी गयी है। कुलकरों ने लोगों को हिंसक पशुओं से रक्षा का उपाय बताया। भूमि/वृक्षों की वैयक्तिक स्वामित्व की सीमाएँ निर्धारित कीं। गाय, बैल, हाथी, घोड़ा आदि वन्य पशुओं का पालन कर उन्हें वाहन के उपयोग में लाना सिखाया। बाल-बच्चों का लालन-पालन एवं उनके नामकरण आदि का उपदेश दिया। शीत-तुषारादि से अपनी रक्षा करना सिखाया। नदियों को नौकाओं द्वारा पार करना, पहाड़ों पर सीढ़ियाँ बनाकर चढ़ना, वर्षा से छत्रादिक धारण कर अपनी रक्षा करना सिखाया और अन्त में कृषि द्वारा अनाज उत्पन्न करने की कला सिखाई। इसके बाद वाणिज्य, शिल्प आदि वे सब कलाएँ व उद्योग-धन्धे हुए जिनके कारण यह भूमि कर्मभूमि कहलाने लगी।

Scanned with OKEN Scanner

इस प्रकार सभी कुलकरों ने अपने-अपने समय में समाज को सभ्यता का कोई न कोई शिक्षण प्रदान किया, जिससे आधुनिक सभ्यता का विकास होने लगा। कृषि और औद्योगिक सभ्यता की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करने का श्रेय कुलकर परम्परा को ही है। ये कुलकर ही ग्राम और नगर संस्कृति के जनक हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से विद्वानों ने इस काल को पूर्व-पाषाण-युग और उत्तर-पाषाण-युग का समन्वित रूप कहा है।

## तिरेसठ शलाका पुरुष

चौदह कुलकरों के पश्चात् जिन महापुरुषों ने कर्मभूमि की सभ्यता के युग में धर्मोपदेश व अपने चरित्र द्वारा अच्छे-बुरे का भेद सिखाया, ऐसे तिरेसठ महापुरुष हुए, जो शलाका पुरुष अर्थात् विशेष गणनीय पुरुष माने गये हैं। शलाका पुरुषों का अर्थ उन महापुरुषों से है, जो सभी तरह की सामाजिक व्यवस्था एवं वैयक्तिक जीवनोत्थान में योगदान देते हैं। सामाजिक चेतना का विकास और धर्मचक्र का प्रवर्तन भी इन्हीं महापुरुषों द्वारा होता है। उन्हीं का चरित्र जैन पुराणों में विशेष रूप से पाया जाता है। इन तिरेसठ शलाका पुरुषों में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बलभद्र और नौ प्रतिनारायण सम्मिलित हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं-

**24 तीर्थंकर**- 1. ऋषभदेव, 2. अजितनाथ, 3. सम्भवनाथ, 4. अभिनन्दन नाथ, 5. सुमतिनाथ, 6. पद्मप्रभ, 7. सुपार्श्वनाथ, 8. चन्द्रप्रभ, 9. पुष्पदन्त, 10. शीतलनाथ, 11. श्रेयांसनाथ, 12. वासुपूज्य, 13. विमलनाथ, 14. अनन्तनाथ, 15. धर्मनाथ, 16. शान्तिनाथ, 17. कुन्थुनाथ, 18. अरहनाथ, 19. मल्लिनाथ, 20. मुनिसुव्रतनाथ, 21. नमिनाथ, 22. नेमिनाथ, 23 पार्श्वनाथ, 24. महावीर।

**12 चक्रवर्ती**- 1. भरत, 2. सगर, 3. मघवा, 4. सनतकुमार, 5. शान्ति, 6. कुन्थु, 7. अरह, 8. सुभौम, 9. पद्म, 10. हरिसेन, 11. जयसेन, 12. ब्रह्मदत्त।

**9 नारायण**- 1. त्रिपृष्ठ, 2. द्विपृष्ठ, 3. स्वयम्भू, 4. मधु, 5. निशुम्भ, 6. बलि, 7. प्रह्लाद 8. रावण, 9. जरासंध।

**9 प्रतिनारायण**- 1. अश्वग्रीव, 2. तारक, 3. मेरक, 4. मधु, 5. निशुंभ, 6. बलि, 7. प्रह्लाद 8. रावण, 9. जरासन्ध।

**9 बलभद्र**- 1. अचल, 2. विजय, 3. भद्र, 4. सुप्रभ, 5. सुदर्शन, 6. आनन्द, 7.नन्दन, 8. राम, 9.बलराम।

Scanned with OKEN Scanner

## प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव

चौदहवें कुलकर नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी से ऋषभदेव उत्पन्न हुए। इनका जन्म अयोध्या में हुआ था। इन्हें वृषभनाथ भी कहा जाता है। चौबीस तीर्थंकरों में से आदिम/प्रथम होने के कारण इन्हें आदिनाथ भी कहा जाने लगा। जैन मार्ग का प्रारम्भ यहीं से माना जाता है। अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में ये राज्यासीन हुए। उन्होंने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प आजीविका के साधनभूत इन छह कर्मों की विशेष रूप से व्यवस्था की तथा देश और नगरों को सुविभाजित कर सम्पूर्ण भारत को बावन जनपदों में विभाजित किया। लोगों को कर्मों के आधार पर इन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन तीन वर्णों की व्यवस्था की, इसलिए इन्हें प्रजापति कहा गया। इनकी दो पत्नियाँ थीं सुनन्दा और नन्दा। इनसे उनके शतपुत्रों एवं दो पुत्रियों का जन्म हुआ। उनमें सुनन्दा से भरत और ब्राह्मी तथा नन्दा से बाहुबली और सुन्दरी प्रमुख हैं। इन्होंने अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों पुत्रियों को क्रमशः अक्षर और अंक विद्या सिखाकर, समस्त कलाओं में निष्णात किया। ब्राह्मी लिपि का प्रचलन तभी से हुआ। आज की नागरी लिपि को विद्वान् उसका ही विकसित रूप मानते हैं।

एक दिन राजमहल में नीलाञ्जना नामक नृत्यांगना की नृत्य करते हुए ही आकस्मिक मृत्यु हो जाने से इन्हें वैराग्य हो गया। फलतः अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को समस्त राज्य का भार सौंपकर, दिगम्बरी दीक्षा धारण कर, वन को तपस्या करने चले गये। भरत बहुत प्रतापी सम्राट् हुए। उन्होंने अपने दिग्विजय द्वारा सर्वप्रथम चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। इसलिए इस देश का नाम इनके नाम के आधार पर भारत पड़ गया। जैनेतर साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है तथा विद्वानों ने भी इसमें अपनी सहमति प्रकट की है।[1]

ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक कठोर तपस्या की, साधना के परिणामस्वरूप उन्होंने कैवल्य प्राप्त कर समस्त भारत भूमि को अपने धर्मोपदेश से उपकृत किया। चूँकि उन्होंने अपने समस्त विकारों को जीत लिया था, इसलिए जिन कहलाए तथा उनके द्वारा प्ररूपित धर्म जैन-धर्म कहलाने लगा। अपने जीवन के अन्त में उन्होंने कैलाश पर्वत से मोक्ष/निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकार जैन-धर्म

---

1. (अ) देखें भरत और भारत
   (ब) मार्कण्डेय पुराण-एक अध्ययन, पृ. 138, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल।

Scanned with OKEN Scanner

का प्रवर्तन प्रारम्भ हो गया और उसी समय से जैन-धर्म पूरी मानवता का धर्म बन गया।

जैन-धर्म की उक्त मान्यता का समर्थन जैनेतर साहित्य एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर भी होता है। वैदिक साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है, साथ ही उसमें जिन वातरसना केशी आदि मुनियों का उल्लेख मिलता है, विद्वज्जनों ने उनका सम्बन्ध भी जैन मुनियों से ही माना है। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में प्रयुक्त ''अर्हन्'' शब्द भी जैन संस्कृति के पुरातन होने का परिचय देता है।

## वैदिक साहित्य में ऋषभदेव

पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ कुछ वैदिक ऋचाओं/मन्त्रों को उद्धृत करते हैं जिनसे जैन संस्कृति का परिचय मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर ऋषभदेव को ज्ञान का अगार तथा दु:खों व शत्रुओं का विध्वंसक बताते हुए कहा गया है कि-

**असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिभा, अस्य शुरुध: सन्तिपूर्वी:।**
**दिवो न पाता विद्थस्थीभि: क्षत्रं राजाना प्रतिवोदधाथे॥**[1]

अर्थात् जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है और पृथ्वी की प्यास बुझा देता है उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक ऋषभ महान् हैं, उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि-परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान-आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और सिद्ध) आत्माएँ अपने ही आत्म गुणों से चमकती हैं। अत: वही राजा हैं, वे पूर्व ज्ञान के आगार हैं और आत्म पतन नहीं होने देते।

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धान्त था- आत्मा में ही परमात्मा का अधिष्ठान है। उसे प्राप्त करने का उपाय करो। इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए वेदों में उनका नामोल्लेख पूर्वक कहा गया है-

**त्रिधावद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्याआविवेश**[2]

अर्थात् मन, वचन, काय से बुद्ध (संयत) ऋषभदेव ने घोषणा की- महादेव मर्त्यों में निवास करता है।

1. ऋग्वेद 3/38/5
2. ऋग्वेद 4/58/3



Scanned with OKEN Scanner

उन्होंने अपनी साधना व तपस्या से मनुष्य शरीर में रहते हुए उसे प्रमाणित भी कर दिखाया। ऐसा उल्लेख भी वेदों में है-

**तनमर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे। ऋग्वेद 39/17**

ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे। जिन्होंने सबसे पहले मर्त्यदशा में देवत्व प्राप्त किया था।

## वातरशना श्रमण/केशी और भगवान् ऋषभदेव

ऋग्वेद में जो वातरशना मुनियों और श्रमणों की साधना का चित्रण मिलता है, उनका सम्बन्ध जैन मुनियों से ही है-

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥
उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥[1]

अर्थात् अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मलिन तन हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई पड़ते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् वे रोक लेते हैं तब वे अपने तप की महिमा से दीप्तिमान होकर देवता स्वरूप प्राप्त हो जाते हैं। सार्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर वे मौनेय की अनुभूति में कहते हैं "मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायु भाव में स्थित हो गये। मर्त्यो! तुम हमारा बाह्य शरीर मात्र देखते हो, हमारे अभ्यन्तर शरीर को नहीं देख पाते।" यह वर्णन निश्चित ही किसी वैदिकेतर तपस्वी का है और वे तपस्वी ऋषभदेव ही होंगे। तैत्तरीयारण्यक में इन्हीं वातरशना मुनियों को "श्रमण" और "उर्ध्वमंथी" भी कहा है। साथ ही उसमें ऋषभदेव का भी उल्लेख है-

**"वातरशना हवा ऋषभाः श्रमणा उर्ध्वमंथिनो बभूवुः[2]।"**

श्रीमद्भागवत में श्रमणों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो वातरशना उर्ध्वमंथी श्रमण मुनि हैं वे शान्त, निर्मल, संपूर्ण परिग्रह से सन्यस्त ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं। वातरशना मुनियों का सम्बन्ध दिगम्बर श्रमणों से ही है, इसलिए

---

1. ऋग्वेद 10, 136, 2-3
2. तैत्तरीयारण्यक 2/7/1

Scanned with OKEN Scanner

निघंटु की भूषण टीका में श्रमण शब्द की व्याख्या इस रूप में की है-

**श्रमणाः दिगम्बराः श्रमणाः वातरशना।**

भागवत 11/2 में उपर्युक्त व्याख्या का समर्थन इसी प्रकार करते हुए कहा गया है-

**श्रमणा वातरशना आत्म-विद्या विशारदाः।**

श्रमण दिगम्बर मुनि का ही नामान्तर है। आचार्य जिनसेन ने आदि-पुराण में वातरशना शब्द का अर्थ निर्ग्रंथ, निरम्बर, दिगम्बर करते हुए कहा है-

**दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः।**[1]

ऋग्वेद में केशी की भी स्तुति प्राप्त होती है। यह केशी साधना-युक्त होते हैं। लिखा है-

**केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।**
**केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ ऋग्वेद 10/136/1**

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है। उसकी ज्ञान ज्योति केवलज्ञान रूप है।

ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनियों की साधनाओं का भागवत पुराण में उल्लिखित ऋषभ की साधनाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत के वातरशना श्रमण एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं। केशी का अर्थ केशधारी है, सम्भवतः ये वातरशना मुनियों के अधिनायक थे। इनकी साधना में मलधारण, मौनव्रत, उन्मादभाव का विशेष उल्लेख हे। श्रीमद् भागवत में ऋषभदेव की जिस वृत्ति का वर्णन है, उससे स्पष्ट है कि वे केशधारी योगी रूप में विचरण करते थे।[2]

जैन मूर्ति कला में ऋषभदेव के कुटिल केशों की परम्परा प्राचीनतम काल से पायी जाती है। चौबीस तीर्थंकरों में से केवल ऋषभदेव की मूर्ति के सिर पर ही कुटिल केश दिखाई पड़ते हैं और वहीं उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। पद्मपुराण में ऋषभदेव की जटाओं का उल्लेख आया है।[3] हरिवंश पुराण में भी उन्हें प्रलम्ब जटाधारी कहा है।[4]

---

1. जिन सहस्रनाम
2. श्रीमद् भागवत 5/6/28-31
3. पद्म पुराण 3/288
4. हरिवंश पुराण 9/204

Scanned with OKEN Scanner

अतः ऋषभदेव का "केशी" यह नाम सार्थक सिद्ध होता है।

ऋग्वेद में एक ऐसी ऋचा उपलब्ध है जिसमें केशी और ऋषभ इन दोनों का उल्लेख है। यहाँ केशी ऋषभ का विशेषण जैसा प्रयुक्त है। मूल ऋचा निम्न प्रकार है-

**ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्, अवावचीत् सारथिरस्य केशी।**
**दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस,ऋच्छन्तिष्मानिष्पदो मुद्गलानीम्।ऋग्वेद10/102/6**

अर्थात् मुद्गलऋषि की गायों को चोर चुरा ले गये थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से वे गायें आगे की ओर न जाकर पीछे को लौट पडीं। सायण ने केशी को ऋषभ का विशेषण बताया है-

***अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्ट केशो वृषभः अवावचीत भृशमशब्दयत्।***

अर्थात् मुद्गल ऋषि ने केशी वृषभ को शत्रुओं का विनाश करने के लिए अपना सारथी नियुक्त किया। इस ऋचा का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुख थीं, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ का उपदेश सुनकर अन्तर्मुखी हो गयीं। अतएव यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद में जो केशी सूक्त आया है वह ऋषभदेव के उल्लेख का सूचक है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर अर्हन्, यति और व्रात्यों का उल्लेख आया है। विद्वानों के अनुसार उनका सम्बन्ध भी जैन संस्कृति से ही है। ऋग्वेद के गवेषणात्मक अध्ययन के आधार पर डॉक्टर सागरमल जैन ने 'ऋग्वेद' में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचाएँ, नामक लेख में लिखा है-

"ऋग्वेद में ने केवल सामान्य रूप से श्रमण परम्परा और विशेष रूप से जैन परम्परा से सम्बद्ध अर्हत्, अर्हन्, व्रात्य, वातरशना, मुनि, श्रमण आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है, अपितु उसमें अर्हत् परम्परा के उपास्य वृषभ का भी उल्लेख शताधिक बार मिलता है। मुझे ऋग्वेद में वृषभवाची 112 ऋचाएँ प्राप्त हुई हैं। सम्भवतः कुछ और ऋचाएँ भी मिल सकती हैं।[1] यद्यपि यह कहना कठिन है

1. डॉ. गोकुलप्रसाद के अनुसार ऋग्वेद की 141 ऋचाओं में ऋषभदेव का स्तुतिपरक उल्लेख एवं उत्कीर्तन हुआ है, जिनमें ऋषभदेव को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुःखों का नाशक कहा गया है। णाणसायर ऋषभ अंक पृ.21

Scanned with OKEN Scanner

कि इन समस्त ऋचाओं में प्रयुक्त वृषभ शब्द ऋषभदेव का ही वाची है, फिर भी कुछ ऋचाएँ तो अवश्य ऋषभदेव से सम्बद्ध ही मानी जा सकती हैं। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, प्रो. जिम्मर, प्रो. विरूपाक्ष वार्डियर आदि कुछ जैनेतर विद्वान् भी इस मत के प्रतिपादक हैं कि ऋग्वेद में जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से सम्बद्ध निर्देश उपलब्ध होते हैं।''[1] ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद में भी ऋषभदेव का अनेकशः उल्लेख मिलता है।

## पुराणों और स्मृतियों में ऋषभदेव

इस प्रकार वेदों में ऋषभदेव का उल्लेख तो मिलता ही है, श्रीमद्भागवत, मार्कण्डेय पुराण, कूर्मपुराण, वायुपुराण, अग्निपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, वराहपुराण, विष्णुपुराण एवं स्कंधपुराण आदि में ऋषभदेव की स्तुति के साथ ही साथ उनके माता-पिता, पुत्र आदि के नाम तथा जीवन की घटनाओं का भी विस्तार से वर्णन है।[2]

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध अध्याय तीन में अवतारों का कथन करते हुए बताया गया है। ''राजा नाभि की पत्नी मरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान् ने आठवाँ अवतार ग्रहण किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने परमंहसों को वह मार्ग दिखाया जो सभी आश्रमवासियों के लिए वन्दनीय है।'' महाभारत शान्तिपर्व में भी ऋषभदेव का उल्लेख है। ऐसा कहा जाता है कि अड़सठ तीर्थों की यात्रा करने से जो फल प्राप्त होता है उतना फल भगवान् आदिनाथ के स्मरण मात्र से ही मिल जाता है-

**अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।**
**श्री आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत्॥**

इस प्रकार पौराणिक साहित्य के अनुशीलन से ऋषभदेव की ऐतिहासिकता के साथ-साथ जैन-धर्म के प्रस्थापक के रूप में उनके महान् व्यक्तित्व का भी पता चलता है।

---

1. देखें श्रमण, अप्रैल-जून 1994
2. विशेष के लिए देखें ऋषभ सौरभ पृ.77

Scanned with OKEN Scanner

## बौद्ध साहित्य में ऋषभदेव

बौद्ध साहित्य में भी ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है। धम्मपद में उन्हें "प्रवर वीर" कहा है (उसभं पवरं वीरं- 422)। मंजुश्री मूल कल्प में उनको निर्ग्रन्थ तीर्थंकर और आप्त देव के रूप में उल्लिखित किया गया है।[1] "न्याय बिन्दु" अध्याय तीन में ऋषभ (वृषभ) और वर्द्धमान को सर्वज्ञ अर्थात् केवल ज्ञानी आप्त तीर्थंकर बताते हुए दिगम्बरों का अनुशास्ता कहा गया है।[2] "धर्मोत्तर प्रदीप" पृष्ठ 286 में भी उनका स्मरण किया गया है। इस प्रकार ऋषभदेव का उल्लेख प्राचीन इतिहास, जैन, वैदिक, बौद्ध तीनों साहित्यों में मिलता है।

## सिन्धु घाटी और जैन-धर्म

पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर भी जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। इतिहासकारों और पुरातत्त्ववेत्ताओं की यह मान्यता है कि वैदिक आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में जो सभ्यता थी, वह अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत थी। विद्वानों ने उसे श्रमण संस्कृति से सम्बद्ध किया है। सन् 1922 से 1927 के बीच भारतीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा सिन्धु घाटी के हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से कई नये तथ्य प्रकाश में आये हैं, जिनसे जैन-धर्म की प्राचीनता के साथ-साथ उसकी प्राग्वैदिकता भी सिद्ध होती है। इन दोनों स्थानों में जिस संस्कृति की खोज हुई वह सिन्धु घाटी की सभ्यता कही जाती है। विद्वानों के अनुसार वह लगभग 5000 वर्ष पुरानी संस्कृति है। इन स्थानों से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री के आधार पर तत्कालीन भारतवासियों के रहन-सहन, पहनाव व रीतिरिवाज और धार्मिक विश्वासों का पता चलता है।

मोहनजोदड़ों से कुछ नग्न कायोत्सर्ग योगी मुद्राएँ मिली हैं, उनका सम्बन्ध जैन संस्कृति से है। इसे प्रमाणित करते हुए स्व.रायबहादुर प्रो.रामप्रसाद चन्द्रा ने अपने शोधपूर्ण लेख में लिखा है-

"सिन्धु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देवमूर्तियाँ न केवल योग मुद्रा में अवस्थित हैं, वरन् उस प्राचीन युग में सिन्धु घाटी में प्रचलित योग पर भी प्रकाश डालती हैं। उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की खड़ी मुद्रा भी प्रकट करते

---

1. सर्वज्ञ आप्ति वा सन्योति ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् यथा वृषभ वर्धमानादिरिति-न्यायबिन्दु अ.3
2. ऋषभो बर्द्धमाश्च तावादी यस्य स ऋषभ-वर्द्धमानादिः दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्च ॥ न्यायबिन्दु 3/13

Scanned with OKEN Scanner

हैं और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनों से सम्बद्ध है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर ध्यान करने की है। आदि पुराण सर्ग अठारह में ऋषभ अथवा वृषभ की तपस्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्त्व संग्रहालय में एक शिला फलक पर जैन वृषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमाएँ विद्यमान हैं, जो ईसा की द्वितीय शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति संख्या 12 में प्रतिबिम्बित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिस्री स्थापत्य में कुछ ऐसी प्रतिमाएँ विद्यमान हैं जिनकी भुजाएँ दोनों ओर लटकी हुई हैं। यद्यपि ये मिस्री मूर्तियाँ या ग्रीक कुरों प्रायः उसी मुद्रा में मिलती हैं, किन्तु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं है जो सिन्धु घाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनों की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती है। ऋषभ का अर्थ होता है वृषभ (बैल) और वृषभ, जिन ऋषभ का चिह्न है।[1]

प्रो. चन्द्रा के इन विचारों का समर्थन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार ने किया है। वे सिन्धु घाटी में मिली इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभदेव की मानते हैं, उन्होंने तो सील क्रमांक 449 पर "जिनेश्वर" शब्द भी पढ़ा है।[2]

इसी बात का समर्थन करते हुए डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं कि फलक 12 और 118 आकृति 7 (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है। जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर ऋषभ देवता की मूर्ति में। वृषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या F.G.H. फलक पर अंकित देव मूर्ति में एक बैल भी बना है। संभव है कि यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा है तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है।[3]

---

1. मार्डन रिव्यु अगस्त 1932 पृ. 156-60
2. It may also noted that inscription on the indus seal No. 449. reads according to decipherment "jinesh". Indian Historical Quarterly. Vol. VIII No. 250.
3. हिंदू सभ्यता पृ. 39

Scanned with OKEN Scanner

इसी बात की पुष्टि करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं-

"मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ समन्वित हो गयी। इस दृष्टि से जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति युक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व हैं।[1]

इसी संदर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. एम.एल. शर्मा लिखते हैं-

मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहर पर जो चिह्न अंकित है वह भगवान् ऋषभदेव का है। यह चिह्न इस बात का द्योतक है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व योग साधना भारत में प्रचलित थी और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। सिन्धु निवासी अन्य देवताओं के साथ ऋषभदेव की पूजा करते थे।[2]

इसी बात के समर्थन में जैनधर्म को प्रागैतिहासिक धर्म निरूपित करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् वाचस्पति गेरौला लिखते हैं-

"श्रमण संस्कृति का प्रवर्तक जैनधर्म प्रागैतिहासिक धर्म है। मोहनजोदड़ो से उपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैन धर्म ने ही किया है। धर्म-दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैनों का विशेष योग रहा है।"[3]

इसी प्रकार अपनी पुस्तक "*हिमालय में भारतीय संस्कृति*" में विश्वम्भर सहाय प्रेमी लिखते हैं-

"शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से यदि इस प्रश्न पर विचार करें तो भी यह मानना ही पड़ता है कि भारतीय सभ्यता के निर्माण में आदिकाल से ही जैनियों का हाथ था। मोहनजोदड़ों की मुद्राओं में जैनत्व बोधक चिह्नों का मिलना तथा वहाँ की योग मुद्रा ठीक जिन मूर्तियों के सदृश होना इस बात का प्रमाण है कि तब ज्ञान और ललित कला में जैनी किसी से पीछे नहीं थे।"[4]

---

1. संस्कृति के चार अध्याय पृ. 62
2. भारत में संस्कृति और धर्म पृ. 62
3. भारतीय दर्शन पृ. 93
4. हिमालय में भारतीय संस्कृति पृ. 47

Scanned with OKEN Scanner

इसी आधार पर जैन धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक धर्म है। इस बात की पुष्टि करते हुए डॉ. विशुद्धानन्द पाठक और पं. जयशंकर मिश्र लिखते हैं-

"विद्वानों का अभिमत है कि यह धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिन्धु घाटी की सभ्यता से मिली योग मूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में ऋषभ तथा अरिष्ट नेमि जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार हैं। भागवत और विष्णु पुराण में मिलने वाली जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा भी जैन धर्म की प्राचीनता व्यक्त करती है।"[1]

इसी प्रकार जैनाचार्य विद्यानन्दजी द्वारा लिखित- *मोहनजोदड़ो, जैन परम्परा और प्रमाण नामक शोधात्मक लेख* दृष्टव्य है। उन्होंने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करते हुए लिखा है-

"जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद है। प्राचीनता के इस तथ्य को हम दो साधनों से मान सकते हैं- पुरातत्त्व और इतिहास। जैन पुरातत्त्व प्रथम सिरा कहाँ है, यह तय कर पाना कठिन है, क्योंकि मोहनजोदड़ो की खुदाई में कुछ ऐसी सामग्री मिली है जिसने जैन धर्म की प्राचीनता को कम से कम पाँच हजार वर्ष आगे धकेल दिया है।"[2]

इसी प्रकार हड़प्पा की खुदाई से एक नग्न मानव धड़ मिला है। नग्न मुद्रा कायोत्सर्ग मुद्रा है। केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग के तत्कालीन महानिदेशक टी.एन.रामचन्द्रन् ने उस पर गहन अध्ययन किया है। उन्होंने अपने " *हड़प्पा एण्ड जैनिज्म*" नामक शोधपूर्ण पुस्तक में उस मूर्ति को ऋषभदेव की प्रमाणित करते हुए लिखा है-

"हड़प्पा की कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्णित मूर्ति पूर्ण रूप से जैन मूर्ति है, उनके मुख पर जैन धर्म का साम्य भाव दूर से झलकता है।"[3]

डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इसे तीर्थंकर ऋषभ की मूर्ति माना है। उनके अनुसार "पटना के पास लोहानीपुर से प्राप्त तीर्थंकर महावीर की मूर्ति

---

1. भारतीय इतिहास और संस्कृति पृ. 199-200
2. मोहनजोदड़ो जैन परम्परा और प्रमाण पृ. 12
3. The Harappan Statuette being exactly in the above specified Pore. We may not be wrong in identifying. The God represented as a Tirthnakara or a jaina ascetic of accredited fame and penance. पृ.4

Scanned with OKEN Scanner

भारत की सबसे प्राचीन मूर्ति है। हड़प्पा की नग्न मूर्ति और इस जैन मूर्ति में समानता है। इनकी विशेषता है योग मुद्रा।''[1]

बाबू कामताप्रसाद जैन ने अपनी पुस्तक *''महावीर और अन्य तीर्थंकर''* में लिखा है कि ''हड़प्पा से प्राप्त एक प्लेट नं. 10 पर केवल मानव मूर्ति का धड़ उत्कीर्णित है। यह भी नग्न है और कायोत्सर्ग मुद्रा में है। इसका हूबहू साम्य बाँकीपुर की जैन मूर्ति में मिलता है। यह मौर्य कालीन है।''[2]

हड़प्पा की संस्कृति को विद्वानों ने ईसा पूर्व 2000 से 3000 वर्ष का माना है। इससे स्पष्ट होता है कि आज से चार-पाँच हजार वर्ष पूर्व भी तीर्थंकरों का अस्तित्व था और उनकी मूर्तियों की पूजा-अर्चना होती थी। इन सब आधारों से अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता जैन संस्कृति से सम्बद्ध थी। श्री पी.आर. देशमुख ने अपनी पुस्तक इंडस सिविलाइजेशन ऋग्वेद एंड हिन्दू कल्चर'' में लिखा है-

''जैनों के पहले तीर्थंकर सिन्धु सभ्यता से ही थे। सिन्धु जनों के देव नग्न होते थे। जैन लोगों ने उस सभ्यता/संस्कृति को बनाये रखा और नग्न तीर्थंकरों की पूजा की।'' उन्होंने सिन्धु घाटी की भाषिक संरचना का उल्लेख करते हुए लिखा है-

''सिन्धुजनों की भाषा प्राकृत थी। प्राकृत जन-सामान्य की भाषा है। जैनों और हिन्दुओं में भारी भाषिक भेद हैं। जैनों के समस्त प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ प्राकृत में हैं। विशेषतया अर्धमागधी में, जबकि हिन्दुओं के समस्त ग्रन्थ संस्कृत में हैं। प्राकृत भाषा के प्रयोग से भी यह सिद्ध होता है कि जैन प्राग्वैदिक है और सिन्धु घाटी से उनका सम्बन्ध था।''[3]

इस विषय में डॉ. प्रेमसागर जैन द्वारा लिखित *''सिन्धु घाटी में ऋषभ युग''* दृष्टव्य है। उन्होंने अपने शोधात्मक लेख में अनेक प्रमाणों के आधार पर यह स्थापित करते हुए कहा है कि ''समूची सिन्धु घाटी उसमें चाहे मोहनजोदड़ो हो या हड़प्पा ऋषभदेव की थी, उनकी ही पूजा-अर्चना होती थी।''[4]

---

1. द इंडस वैली सिविलाइजेशन एंड ऋषभदेव, वी.जी. नैयर, पृ.1
2. महावीर और अन्य तीर्थंकर, पृ. 23
3. इंडस सिविलाइजेशन एंड हिंदू कल्चर, पी.आर.देशमुख, पृ. 344
4. सिंधु घाटी में ऋषभयुग डॉ.प्रेमसागर जैन, णाणसायर ऋषभदेव अंक।

Scanned with OKEN Scanner

इतिहासकारों के अनुसार वैदिक आर्यों के भारत आगमन अथवा सप्त सिन्धु से आगे बढ़ने से पूर्व भारत में द्रविड़, नाग आदि मानव जातियाँ थीं। उस काल की संस्कृति को द्रविड संस्कृति कहा गया है। डॉ.हेरास, प्रो.एस.श्रीकंठ शास्त्री जैसे अनेक शीर्षस्थ विद्वानों और पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उस संस्कृति को द्रविड तथा अनार्य संस्कृति का अभिन्न अंग माना है। प्रो.एस.श्रीकंठ शास्त्री ने सिन्धु सभ्यता का जैन धर्म के साथ सादृश्य बताते हुए लिखा है, ''अपने दिगम्बर धर्म,'' योग मार्ग, वृषभ आदि विभिन्न लाञ्छनों की पूजा आदि बातों के कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता जैन धर्म के साथ अद्भुत सादृश्य रखती है। अतः वह मूलतः अनार्य अथवा कम से कम अवैदिक तो है ही।[1] हड़प्पा से प्राप्त योगी मूर्तियाँ तथा वैदिक साहित्य में उल्लिखित दस्यु, असुर, नाग और व्रात्य आदि संस्कृतियाँ भी उन्हीं का स्मरण कराती हैं। ये सभी संसकृतियाँ जैन संस्कृति के अंगभूत संस्कृतियाँ थीं। इसी बात पर जोर देते हुए मेजर जनरल जे.सी.आर.फर्लांग एफ.आर.एस.ई. ने अपने ग्रन्थ में लिखा है-

''ईसा पूर्व 'अज्ञात समय से कुछ पश्चिमी, उत्तरी व मध्य भारतीय तुरानी जिनको द्रविड कहते हैं, के द्वारा शासित था। द्रविड श्रमण धर्म के अनुयायी थे। श्रमण धर्म जिसका उपदेश ऋषभदेव ने दिया था, वैदिकों ने उन्हें जैनों का प्रथम तीर्थंकर माना है। मनु ने द्रविड़ों को व्रात्य कहा है, क्योंकि वे जैन धर्मानुयायी थे।''[2]

श्री नीलकंठ शास्त्री ने *'उड़ीसा में जैन धर्म'* नामक पुस्तक में जैन धर्म को संसार का मूलधर्म बताते हुए द्रविड़ों को जैनों से संबद्ध किया है। वे लिखते हैं-

''जैन धर्म संसार का मूल अध्यात्म धर्म है। इस देश में वैदिक धर्म के आने से बहुत पहले से ही यहाँ जैन धर्म प्रचलित था। सम्भव है कि प्राग्वैदिक में शायद द्रविड़ों में यह धर्म था।'[3] इसी प्रकार पी.सी.राय चौधरी ने भी जैन धर्म को अत्यन्त प्राचीन धर्म माना है। उनके अनुसार मगध में पाषाण युग के बाद कृषि युग का प्रवर्तन ऋषभ युग में हुआ।[4]

---

1. देखें भारतीय इतिहास- एक दृष्टि. पृ. 243
2. शार्ट स्टडीज ऑफ कम्परेटिव रिलिजन, पृ. 243
3. उड़ीसा में जैन धर्म पृ. 3
4. जैनिज्म इन बिहार पृ. 47

Scanned with OKEN Scanner

## शिलालेखीय साक्ष्य

जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से कलिंगाधिपति सम्राट् खारवेल द्वारा लिखाया गया उदयगिरि, खंडगिरि के हाथी गुफा वाला लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ***नमो अरहंतानं, नमो सव्व सिद्धानं*** से प्रारम्भ हुए उक्त लेख में जैन इतिहास की व्यापक जानकारी मिलती है। उसमें लिखा है कि महामेघवाहन खारवेल मगधराज पुष्यमित्र पर चढ़ाई कर ऋषभदेव की मूर्ति वापस लाया था। बैरिस्टर श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने उस लेख का गम्भीर अध्ययन करके लिखा है- ''अब तक के उपलब्ध इस देश के लेखों में जैन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण शिलालेख है। उससे पुराण के लेखों का समर्थन होता है। वह राजवंश के क्रम को ईसा से 450 वर्ष पूर्व तक बताता है। इसके सिवाय यह सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर के 100 वर्ष के अनन्तर ही उनके द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म, राज धर्म हो गया था और उसने उड़ीसा में अपना स्थान बना लिया था।''[1] उक्त लेख से यह प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर के समय में भी ऋषभदेव की पूजा-अर्चना होती थी।

मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त देव निर्मित स्तूप की सामग्री बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ सैकड़ों जैन मूर्तियाँ और शिल्पावशेषों के अतिरिक्त सौ से अधिक अभिलेख मिले हैं। उसमें सबसे प्राचीन देव निर्मित स्तूप विशेष उल्लेखनीय है। अत्यन्त प्राचीन होने के कारण इसे देव निर्मित स्तूप कहा जाता है। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार ईसा पूर्व 800 के आसपास उसका पुर्ननिर्माण हुआ।[2] कुछ विद्वान् उसे आज से 3000 वर्ष प्राचीन मानते हैं।[3]

उसके साथ ही वहाँ से ई.पू. दूसरी सदी से बारहवीं शताब्दी तक की अनेक तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी मिली हैं। इससे भी जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है।

इन्हीं सब आधारों के कारण विसेंट ए.स्मिथ ने लिखा है-

''मथुरा से प्राप्त सामग्री लिखित जैन परम्परा के समर्थन में विस्तृत प्रकाश डालती है और जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह बात बताती है कि प्राचीन समय में भी वह अपने इसी

---

1. जैन सिद्धान्त भास्कर भा. 5 पृ. 26-30
2. 3. देखें 'ऋषभ सौरभ' में प्रकाशित डॉ.रमेश चन्द्र शर्मा द्वारा लिखित 'मथुरा के जैन साक्ष्य'

Scanned with OKEN Scanner

रूप में मौजूद था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भी वह अपने विशेष चिह्नों के साथ चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता में दृढ़ विश्वासी था''[1]

## विद्वानों के अभिमत

इस प्रकार ऐतिहासिक खोजों, शिलालेखीय प्रमाणों, पुरातात्त्विक साक्ष्यों एवं प्राचीन साहित्य के सत्यानुशीलन से ऋषभदेव के साथ-साथ जैन धर्म की प्राचीनता दर्पणवत् स्पष्ट हो जाती है। अब प्रायः सभी विद्वान् यह मानने लगे हैं कि जैन धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है और इसका प्रवर्तन ऋषभदेव ने किया था। प्रसंगानुरोध से इसी क्रम में कुछ विद्वानों के महत्वपूर्ण गवेषणात्मक मन्तव्यों/निष्कर्षों को उद्धृत करते हैं जिनसे जैन धर्म की प्राचीनता का पता चलता है-

1. जैन धर्म के आरम्भ को जान पाना असम्भव है। इस तरह यह भारत का सबसे पुराना धर्म मालूम होता है।[2]

**-मेजर जे.सी.आर.फरलांग**

2. जैन धर्म तब से प्रचलित हुआ जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ। इससे मुझे किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं है कि जैन दर्शन वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है।[3]

**-महामहोपाध्याय राम मिश्र शास्त्री**

3. जैन परम्परा के अनुसार जैन दर्शन का उद्गम ऋषभदेव से हुआ, जिन्होंने कई शताब्दियों पूर्व जन्म धारण किया था। इस प्रकार के पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि ईसा से एक शताब्दी पूर्व भी ऐसे लोग थे जो ऋषभदेव की पूजा करते थे, जो सबसे पहले तीर्थंकर थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्द्धमान एवं पार्श्वनाथ से पूर्व भी जैन धर्म प्रचलित था। यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख है- ऋषभदेव, अजितनाथ, अरिष्ट नेमि। भागवत पुराण इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे।[4]

**- पूर्व राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्**

---

1. जैन स्तूपः मथुरा, पृ.6
2. दि शार्ट स्टडीज इन साइंस ऑफ कम्परेटिव रिलिजन, पृ.14
3. जैन इतिहास पर लोकमत
4. भारतीय दर्शन भाग-1 पृष्ठ-233

Scanned with OKEN Scanner

4. पार्श्वनाथ को जैन धर्म का संस्थापक सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की सम्भावना है।[1]

**-सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ.हर्मन जैकोबी**

5. जब जैन और ब्राह्मण दोनों ही ऋषभदेव को इस अल्पकाल में जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं तो इस मान्यता को अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।[2]

**-स्टीवेन्सन**

6. विशेषतः प्राचीन भारत में किसी भी धर्मान्तर से कुछ भी ग्रहण करके नूतन धर्म चलाने की प्रथा नहीं थी। जैन धर्म हिन्दू धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। यह उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं है।[3]

**-प्रो.मेक्समूलर**

7. डॉ. जिम्मर जैन धर्म को प्रागैतिहासिक, वैदिक धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र तथा प्राचीन मानते हुए लिखते हैं, ''ब्राह्मण आर्यों से जैन धर्म की उत्पत्ति नहीं है, अपितु वह बहुत प्राचीन प्राग्आर्य, उत्तरपूर्वी भारत की उच्च श्रेणी के सृष्टि विज्ञान और मनुष्य आदि के विकास तथा रीतिरिवाजों के अध्ययन को व्यक्त करता है।''[4]

8. जैन लोग अपने धर्म के प्रचारक सिद्धों को तीर्थंकर कहते हैं। जिनमें आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में संशय नहीं किया जा सकता। श्रीमद्भागवत में कई अध्याय ऋषभदेव के वर्णन में लगाए गए हैं। ये मनुवंशी महीपति नाभि और महारानी मरुदेवी के पुत्र थे। इनकी विजय वैजयंति

---

1. इंडियन एंटीक्वेरी 46/63
2. it is so seldom that jains and Brahmans agree I do not see now. We can refuse them credit in this instance where they do so.
   **- kalpsutra Introduction**
3. ऋषभ सौरभ पृ. 29
4. Jainism does not derive from Brahman Aryan sources but reflects the Cosmology and an Anthropology of a much old pre Aryan upper class of North Eastern India.
   **- The Philosophies of india-p. 217**

Scanned with OKEN Scanner

अखिल महीमंडल पर फहराती थी। इनके सौ पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ थे 'भरत'। जो भारत के नाम से अपनी अलौकिक आध्यात्मिकता के कारण प्रसिद्ध थे और जिनके नाम से प्रथम अधीश्वर होने के हेतु हमारा देश भारत के नाम से विख्यात हुआ।[1]

**-डॉक्टर बलदेव उपाध्याय**

9. ग्रन्थों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि जैन धर्म अनादि है। यह विषय निर्विवाद है तथा मतभेद से रहित है। सुतरां.....इस विषय में इतिहास के सुदृढ़ सबूत है।[2]

**-लोकमान्य बालगंगाधर तिलक**

10. यह सुविदित है कि जैन धर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान् महावीर तो अन्तिम तीर्थंकर थे।.... भगवान् महावीर से पूर्व 23 तीर्थंकर हो चुके थे। उन्हीं में भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे, जिसके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। जैन कला में उनका अंकन घोर तपश्चर्या की मुद्रा में मिलता है। ऋषभनाथ के चरित्र का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी विस्तार से आता है और यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि उसका क्या कारण रहा होगा? भागवत में इस बात का भी उल्लेख है कि महायोगी भरत, ऋषभ के शतपुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारतवर्ष कहलाया।[3]

**-डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल**

11. लोगों का यह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे, किन्तु इसका प्रचार ऋषभदेव ने किया था। इसकी पुष्टि में प्रमाणों का अभाव नहीं है।[4]

**-वरदाकान्त मुखोपाध्याय**

---

1. भारतीय दर्शन, पृ.88 सप्तम संस्करण
2. अहिंसा वाणी, जुलाई 82, पृ.197-198
3. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका प्रस्तावना पृ. 8
4. जैनधर्म की प्राचीनता पृ.8

Scanned with OKEN Scanner

12. जैन और बौद्ध धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में मुकाबला करने पर जैन धर्म वास्तव में बहुत प्राचीन है। मानव समाज की उन्नति के लिए जैन धर्म में सदाचार का बड़ा मूल्य है।[1]

**- फ्रेंच विद्वान् ए.गिरिनाट**

13. संसार में प्रायः यह मत प्रचलित है कि भगवान् बुद्ध ने आज से 2500 वर्ष पहले अहिंसा सिद्धान्त का प्रचार किया था। किसी इतिहास के ज्ञानी को इसका बिल्कुल ज्ञान नहीं कि महात्मा बुद्ध से करोड़ों वर्ष पूर्व एक नहीं अनेक तीर्थंकरों ने अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्राचीन क्षेत्र और शिलालेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि जैन धर्म प्राचीन धर्म है, जिसने भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ दिया।[2]

## अन्य तीर्थंकर

पूर्व कथित प्रमाणों एवं उपर्युक्त विद्वानों के सम्मतियों के आधार पर भगवान् ऋषभदेव की ऐतिहासिकता में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। ऋषभदेव जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर थे। इनके बाद क्रमशः तेईस तीर्थंकर और हुए, जिनका जीवन चरित्र जैन पुराण ग्रन्थों में सविस्तार मिलता है। इसके अतिरिक्त मथुरा के कंकाली टीला एवं अन्य स्थानों से प्राप्त ईस्वी सन् से शताब्दियों पूर्व की निर्मित प्रतिमाओं से भी शेष तीर्थंकरों का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित होता है।[3]

## तीर्थंकर नेमिनाथ

इनमें बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ जिन्हें अरिष्ट नेमि भी कहते हैं, की ऐतिहासिकता को विद्वानों ने स्वीकार किया है। वे नारायण श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे।[4] यजुर्वेद आदि ग्रन्थों में भी अरिष्ट नेमि का उल्लेख हुआ है।

---

1. जैन धर्म पृ. 128
2. जैन धर्म पृ.128
3. जैन स्तूप एंड अदर एण्टीक्वीटीज ऑफ मथुरा पृ. 24.25
4. Neminath is connected with the legend of shri krishna as his relative... The Harivansa Puran establishes the Historicity of Neminath. He was never a mythical person. He is referred to as a jina in Prabhasas Purana. Who obtained solvation on the M.T. Raivataka - **Dr.B.C.Law Voa, S.P.No.Vol.v.P48**

Scanned with OKEN Scanner

पुराणों से भी स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण के समकालीन एक अरिष्ट नेमि नामक ऋषि थे। महाभारत में भी उनका उल्लेख है।[1]

## तीर्थंकर पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में हुआ था। ये उग्रवंशी राजा अश्वसेन और महारानी वामादेवी के पुत्र थे। 30 वर्ष की अवस्था में इनका मन वैराग्य से भरा उठा और कुमार अवस्था में ही समस्त राज-पाट छोड़कर इन्होंने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर तपस्या मार्ग अपना लिया। कुछ दिन तक दुर्द्धर तपस्या करने के उपरान्त इन्हें कैवल्य की उपलब्धि हुई। तदनन्तर देश-देशान्तरों में भ्रमण करते हुए उन्होंने जैन धर्म का उपदेश दिया। अन्त में 100 वर्ष की अवस्था में झारखण्ड प्रदेश में स्थित सम्मेद शिखर से निर्वाण लाभ किया। यह पर्वत तब से आज भी पारसनाथ हिल्स के नाम से विख्यात है। जैन पुराणों के अनुसार इनके और महावीर के निर्वाण काल में 250 वर्ष का अन्तर है। इतिहासकारों के अनुसार इनकी जन्मतिथि 877 ई.पू. तथा निर्वाण तिथि 777 ई.पू. है।

## पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बारे में भी किसी प्रकार के सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है। बौद्ध[2] और जैन[3] ग्रन्थों में इनके शिष्यों का उल्लेख मिलता है। उनके

---

1. एक समय था जब इतिहासज्ञ विद्वान् भगवान् नेमिनाथ की ऐतिहासिकता में विश्वास नहीं रखते थे, किन्तु आधुनिक ऐतिहासिक खोजों के आधार पर अब विद्वान् यह मानने लगे हैं कि श्रीकृष्ण के समय नेमिनाथ जैसे कोई महापुरुष हुए हैं। प्रसिद्ध कोषकार डॉ. नागेंद्रनाथ वसु, पुरातत्त्वज्ञ डॉ.फूहरर, प्रो.वारनेट, कर्नल टाड, मि.कवा, डॉ.हरिसत्य भट्टाचार्य, डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकर, डॉ. राधाकृष्णन् आदि अनेक प्रौढ़ और प्रामाणिक विद्वान् तीर्थंकर नेमिनाथ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने लगे हैं। स्वयं ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, ऐतरेय ब्राह्मण, यास्कनिरुक्त, सर्वानुक्रमणिका टीका, वेदार्थ दीपिका, सायण भाष्य, महाभारत, भागवत, स्कंद पुराण एवं मार्कण्डेय पुराण आदि प्रसिद्ध ब्राह्मणीय ग्रन्थों में इनके उल्लेख मिलते हैं। इतना ही नहीं तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रभाव भारत के बाहर विदेशों में भी पहुँचा प्रतीत होता है।
   कर्नल टाड अपनी पुस्तक राजस्थान में लिखते हैं कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। इनमें पहले आदिनाथ या ऋषभदेव थे। दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केण्डिनेविया निवासियों के प्रथम 'ओडिन' तथा चीनियों के प्रथम 'फो' नामक देवता थे। डॉ.प्राणनाथ विद्यालंकार ने इसके अतिरिक्त 19 मार्च 1935 के साप्ताहिक 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में काठियावाड़ से प्राप्त कर प्राचीन ताम्र शासन प्रकाशित किया था। उनके अनुसार उक्त दानपत्र पर जो लेख अंकित था उसका भाव यह है कि 'सुमेर जाति में उत्पन्न बाबुल के खिल्दियन सम्राट् नेवुचेदनज्जन ने जो रेवानगर (काठियावाड़) का अधिपति है, यदुराज की इस भूमि (द्वारका) में आकर रेवताचल (गिरिनार) के स्वामी नेमिनाथ की भक्ति की तथा उनकी सेवा में दान अर्पित किया।' दानपत्र पर उक्त पश्चिमी एशियाई नरेश की मुद्रा भी अंकित है और उसका काल ईसा पूर्व 1140 केलगभग अनुमान किया जाता है। - **भारतीय इतिहास- एक दृष्टि : पृ. 45**
2. मज्झिम निकाय, 1/25
3. उत्तराध्ययन गौतम केशी संवाद

Scanned with OKEN Scanner

स्तूप, मन्दिर और मूर्तियाँ स्वयं उनके काल से अब तक की बराबर मिलती हैं, जिनसे उनका अस्तित्व प्रमाणित होता है।[1] डॉ. चार्ल कारपेंटर, डॉ. गिरिनाट, डॉ. हर्म्सवर्थ, प्रो. रामप्रसाद चन्द्रा, डॉ. विमल चरण लाहा तथा डॉ. जिम्मर[2] प्रभृति अनेक विद्वान् इनकी ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि "भगवान् पार्श्व अवश्य हुए, जिन्होंने लोगों की शिक्षाएँ दी थीं। इनकी ऐतिहासिकता स्वयंसिद्ध है।"[3]

## तीर्थंकर महावीर

अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जन्म चैत्र शुक्ल त्रयोदशी (सोमवार 27 मार्च ईस्वी पूर्व 598) के दिन कुण्डग्राम में हुआ। कुण्डग्राम प्राचीन भारत के व्रात्य क्षत्रियों के प्रसिद्ध वज्जि संघ के वैशाली गणतन्त्र के अन्तर्गत था। वर्तमान में उस स्थान की पहचान बिहार के वैशाली नगर से की गई है। वहाँ भगवान् महावीर का स्मारक भी बना हुआ है। उनके पिता सिद्धार्थ वहाँ के प्रधान थे। वे ज्ञातृवंशी काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय थे तथा माता त्रिशला उक्त संघ के अध्यक्ष लिच्छवि नरेश चेटक की पुत्री थीं। उन्हें प्रियकारिणी देवी के नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। नाथवंशी होने के कारण महावीर को बौद्ध ग्रंथों में नात पुत्र (नाथ पुत्र) भी कहा गया है। महावीर के बचपन का नाम वर्धमान था, किंतु समय-समय पर घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं के कारण वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर आदि नाम भी उनके साथ जुड़ गए।

भगवान् महावीर के समय देश की स्थिति अत्यन्त अराजक थी। चारों ओर हिंसा का बोलबाला था। धर्म के नाम पर प्रतिदिन निरपराध पशुओं की बलि दी जाती थी। समाज का अभिजात वर्ग अपनी तथाकथित उच्चता के अभिमान में निम्नवर्ग का हर प्रकार से शोषण कर रहा था। वे मनुष्य होकर भी मानवोचित अधिकारों से वंचित थे। कुमार वर्धमान का मन इस हिंसा और विषमता से होने वाली मानवता के उत्पीड़न से बेचैन था। इस विषम परिस्थिति ने उन्हें आत्मानुसन्धान

---

1. कंकाली टीला मथुरा का जैन स्तूप उनके ही समय बना था।
2. देखें भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ. 47
3. At least with respect to Parshva the Tirthankare just preceding Mahavira. We have ground three for Parshva believing that he actualy lived and thought... Parshva....is the first of The Long Series. Whom we can fairly visualize in and all historical setting **- Philosophies of India**

Scanned with OKEN Scanner

की ओर प्रवृत्त किया। अतः इन्होंने तीस वर्ष की भरी जवानी में विवाह के प्रस्ताव को ठुकराकर मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी (29 नवंबर ई.पू. 569) के दिन समस्त राज-पाट का त्याग कर दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। वे बारह वर्ष तक कठिन मौन साधना में रत रहे। परिणामस्वरूप वैशाख शुक्ल दशमी (23 अप्रैल ई. पूर्व 557) के दिन बिहार के जृम्भक गाँव में ऋजुकूला नदी के किनारे उन्हें केवल ज्ञान की उपलब्धि हुई। वे पूर्ण वीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा बन गए। वहाँ से चलकर वे राजगृह के बाहर स्थित विपुलाचल पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन अपना प्रथम धर्मोपदेश दिया।

उनका उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमागधी भाषा में हुआ। यही उनका प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन था। तीर्थंकर महावीर ने किसी नये धर्म का प्रवर्तन नहीं किया था, बल्कि पूर्व तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित धर्म का ही पुनरुद्धार किया था। उनकी धर्मसभा समवशरण कहलाती थी, जहाँ जन समुदाय को बिना किसी वर्ण, वर्ग, जाति, लिंग आदि के भेदभाव के कल्याणकारी उपदेश दिया जाता था। इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त, सुधर्म, मण्डिक पुत्र, मौर्य पुत्र, अकम्पित, अचल, मैत्रेय और प्रभास उनके ग्यारह गणधर या प्रधान शिष्य थे। महासती चन्दना उनके आर्यिका/साध्वी संघ की प्रधान थीं। सम्राट् श्रेणिक उनके प्रधान श्रोता थे तथा महाराज्ञी चेलना श्रावक संघ की नेत्री थीं। इस प्रकार उन्होंने मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की, जिसमें सभी वर्गों/जातियों के लोग सम्मिलित थे। तीस वर्षों तक देश-देशान्तरों में विहार करके उन्होंने लोक को मुक्ति की राह दिखाई। अनेक राज्यों की राजधानियों में उनका विहार हुआ और तत्कालीन राजा-महाराजाओं में अधिकांश उनके उपदेशों से प्रभावित हुए। उनमें से अनेक ने श्रमण दीक्षा ग्रहण कर आत्म-साधना की। लाखों लोग उनके अहिंसा, संयम, समता और अनेकान्त मूलक उपदेशों से प्रभावित होकर अनुयायी बने। भारतवर्ष में प्रायः प्रत्येक भाग में महावीर के अनुयायी थे। भारत के बाहर भी गांधार, कपिसा, पारसीक आदि प्रत्यन्त देशों में उनके भक्त थे।

अन्त में 72 वर्ष की अवस्था में कार्तिक कृष्ण अमावस्या (15 अक्टूबर, मंगलवार ईसा पूर्व 527) के दिन प्रातःकाल मनोहर प्रहर ब्रह्म मुहूर्त में मध्यम पावानगर के कमल सरोवर के मध्य स्थित द्वीपाकर स्थल प्रदेश से उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। उस स्थान पर आज भी एक विशाल मन्दिर बना हुआ है, जो हमें भगवान् महावीर के निर्वाण का स्मरण दिलाता है।

Scanned with OKEN Scanner

अहिंसा, अनेकान्त, समता और कर्मवाद रूप धर्म चतुष्टय ही भगवान् महावीर के उपदेशों का सार है। सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से अहिंसा को जितना व्यापक रूप भगवान् महावीर ने प्रदान किया, सम्भवतया उतना किसी अन्य धर्मोपदेष्टा ने नहीं दिया। जैन धर्म को उसके अन्तिम विकसित रूप देने का श्रेय अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को ही है।

इस प्रकार ऋषभदेव से महावीर तक जैनधर्म की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म रहा है और उसने व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व की एकता एवं विकास की दृष्टि से जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं वे आज भी उतने ही प्रासंगिक और उपयोगी हैं जितने उस समय थे।

## भगवान् महावीर के बाद जैन धर्म

भगवान् महावीर के निर्वाणोपरानत उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम जैन संघ के नायक बने। महावीर का शिष्यत्व ग्रहण करने से पूर्व वह वेद-वेदान्तों के प्रकाण्ड ज्ञाता ब्राह्मण पण्डित थे। भगवान् महावीर के निर्वाण के दिन ही इन्हें शाम को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। 12 वर्ष तक संघ इनके नेतृत्व में रहा। तत्पश्चात् महावीर संवत् 12 (ई.पू. 515) में निर्वाण को प्राप्त हुए। उनके बाद सुधर्माचार्य को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। 22 वर्षों तक संघ इनके नेतृप्त में रहा। उनके निर्वाण के उपरान्त जम्बू स्वामी संघ के नायक बने। ये चम्पा नगरी में एक कोट्यधीश श्रेष्ठी के पुत्र थे और महावीर स्वामी के प्रभाव से शिष्य हो गये थे। उन्होंने 39 वर्ष तक धर्म प्रवचन दिया और अन्त में मथुरा चौरासी नामक स्थान पर उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। उनके पश्चात् क्रमशः विष्णुकुमार, नन्दिपुत्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए, जिनके नेतृत्व में संघ चला। इन पाँचों का कालयोग 100 वर्ष होता है। इन्हें सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञान था।[1] इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का जैनधर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इनके पूर्व समस्त जैन संघ अखण्ड और अविभक्त था, किन्तु इनके स्वर्गवास के उपरान्त साधुओं में मतभेद, गणभेद आदि प्रारम्भ हो गये। दिगम्बर और श्वेतात्मबर रूप विभाजन का बीजारोपण भी यहीं पर हुआ था।

---

1. तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट तत्त्व श्रुत कहलाता है। श्रुतकेवली उसके पूर्ण ज्ञाता होते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

## श्वेताम्बर मत का प्रादुर्भाव

उपर्युक्त मतभेदादिक का सबसे बड़ा कारण मगध को ग्रसने वाला बारह वर्षीय महादुर्भिक्ष था। आचार्य भद्रबाहु निमित्त ज्ञानी भी थे। अतः उन्होंने भावी संकट को जानकर सम्पूर्ण संघ को दक्षिण भारत की ओर विहार करने का आदेश दिया। उनके नेतृत्व में श्रमण संघ का बहुभाग दक्षिण भारत को प्रस्थान कर गया। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भी उस संघ के साथ दक्षिण की ओर चले गये थे। अपना अन्त समय निकट जानकर आचार्य भद्रबाहु कनार्टक के श्रवणबेलगोला में कटवप्र नामक पहाड़ी पर रुक गये तथा समस्त संघ को चोल, पाण्ड्य आदि प्रदेशों की ओर जाने का आदेश दिया। फिर उन्होंने समाधिमरण पूर्वक देह त्याग किया। नवदीक्षित सम्राट् चन्द्रगुप्त भी उनके साथ थे। मुनि चन्द्रगुप्त ने भी वहीं तपस्या की, जिसके कारण इस पहाड़ी का नाम चन्द्रगिरि पड़ गया। इस आशय का छठी शताब्दी का एक शिलालेख वहाँ मिला है, जिसके आधार पर विद्वानों ने चन्द्रगुप्त को जैन मुनि होना निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है।

उधर आचार्य स्थूलभद्र (शान्ति आचार्य) के नेतृत्व में मुनियों का एक संघ उत्तर भारत में ही रुक गया था। दुर्भिक्ष के दुर्दिनों में वे अपनी कठोर चर्या/नियम संयम, आचार-विचार को आगमानुकूल सुरक्षित नहीं रख सके। परिणामतः वस्त्र, पात्र, आवरण, दंड आदि भी उनसे जुड़ गए। इस प्रकार समय बीतने पर जब सुभिक्ष हो गया तो आचार्य स्थूलभद्र ने उनसे कहा कि "अपने कुत्सित आचरण को छोड़कर अपनी निन्दा गर्हा पूर्वक फिर से मुनियों का श्रेष्ठ आचरण ग्रहण कर लो।" किन्तु बहुत प्रयास करने पर भी वे बढ़ते हुए शिथिलाचार को नहीं रोक सके। इसी समय से जैन संघ दो भागों में बँटना प्रारम्भ हो गया। पहला संघ मूल आगम में अनुसार आचरण करने वाला था, वह मूल आम्नाय कहलाया तथा दूसरा संघ शिथिलाचारी साधुओं का था, जो आगे चलकर ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में श्वेताम्बर मत का जनक बना।

प्रारम्भ में शिथिलाचारी साधुओं ने अपनी नग्नता को छिपाने के लिए एकमात्र खण्ड-वस्त्र रखा, जिसे वे अपनी कलाई पर लटका लेते थे, इसलिए वे अर्द्धफालक कहलाए। मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त एक शिला पट्ट पर (आयगपट्ट) एक ऐसे ही साधु का चित्र अंकित है, जो अपने हाथ पर वस्त्र लटकाए हुए है, उसका शेष शरीर नग्न है। आगे चलकर उस वस्त्र को धागे द्वारा

Scanned with OKEN Scanner

कटि में बाँधा जाने लगा। फिर लँगोट का प्रयोग होने लगा। धीरे-धीरे सम्पूर्ण वस्त्र प्रयोग होने लगा। वस्त्रों के साथ पात्र आदि चौदह उपकरणों का भी विधान हो गया।[1] वस्त्रधारी साधु श्वेताम्बर तथा मूल आगम के अनुसार चर्या करने वाले निर्वस्त्र साधु दिगम्बर कहलाए। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरि के सम्बोध प्रकरण से प्रकट होता है कि विक्रम की 7वीं, 8वीं शताब्दी तक श्वेताम्बर साधु भी एक कटि वस्त्र ही रखते थे तथा जो साधु उस कटि वस्त्र का निष्कारण उपयोग करता था वह कुसाधु माना जाता था,[2] किन्तु आगे चलकर वस्त्र पात्रादि का जोरदार समर्थन किया गया। इस क्रम में सर्वप्रथम जम्बू स्वामी के काल से जिन कल्प के विच्छेद का मिथक रचकर उस ओर बढ़ने वाले साधकों को रोका गया तथा प्राचीन आगमों में उल्लिखित अचेल, नाग्न्य जैसे स्पष्ट शब्दों के अर्थ में भी परिवर्तन कर डाला गया।

इस प्रकार उक्त वस्त्र ही दिगम्बर और श्वेताम्बर रूप संघ-भेद का सबसे बड़ा कारण बना। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पण्डित बेचरदासजी दोशी का निम्न कथन बड़ा सटीक मालूम पड़ता है कि "किसी वैद्य ने संग्रहणी के रोगी को दवा के रूप में अफीम सेवन की सलाह दी थी, किन्तु रोग दूर होने पर भी जैसे उसे अफीम की लत पड़ जाती है और वह उसे नहीं छोड़ना चाहता, वैसी ही दशा इस अपवादिक वस्त्र की हुई।"[3]

## दिगम्बरत्व की प्राचीनता

भगवान् महावीर से आचार्य भद्रबाहु के काल तक सम्पूर्ण जैन संघ निर्ग्रन्थ संघ कहलाता था तथा उस समय सभी साधु दिगम्बर ही रहते थे। पण्डित

---

1. श्वेताम्बर साधु के चौदह उपकरण-

   1. पात्र 2. पात्र बंध 3. पात्र स्थापन 4. पात्र प्रमार्जनिका 5. पटल 6. रजस्त्राण 7. गुच्छक 8-9 दो चादरें 10. ऊनी वस्त्र 11. रजोहरण 12. मुख वस्त्रिका 13. मात्रक 14. चोल पट्टक।

   यह उपाधि औद्यिक अर्थात् सामान्य मानी गयी। आगे जाकर जो उपकरण बढ़ाये गये वे "औपग्रहिक" कहलाए। औपग्रहिक उपाधि में संस्तारक, उत्तरपट्टक, दण्डासन और दण्ड ये खास उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आज के श्वेताम्बर जैन मुनि रखते हैं।

   **-जैन साहित्य का इतिहास, पृ. 474**

2. कीवो न कुणइ लोयं लज्जई पडिमाई जल्लमुवाणोई।
   सोवाहणो य हिंडई बंधइ कडि पट्ट मकज्जे॥

   **-संबोध प्रकरण, पृ.14**

   अर्थात् क्लीव दुर्बल श्रमण लोच नहीं करते, प्रतिमा वहन करते समय शर्माते हैं, शरीर पर का मल उतारते हैं, पैरों में जूता पहनकर चलते हैं और बिना प्रयोजन कटिवस्त्र बाँधते हैं।

3. जैन साहित्य में विकार, पृ. 40

Scanned with OKEN Scanner

कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री ने *''जैन साहित्य का इतिहास''* नामक ग्रन्थ में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अनेक इतिहासज्ञ, विद्वानों ने भी इसे स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि आचार्य भद्रबाहु के समय पड़ने वाले महादुर्भिक्ष के कारण ही निर्ग्रन्थ संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ।[1]

प्राचीन साहित्य के अन्वेषण, शिलालेखीय साक्ष्यों एवं पुरातात्विक सामग्री के आधार पर भी दिगम्बरों की प्राचीनता सिद्ध होती है। जितनी भी प्राचीन प्रतिमाएँ मिली हैं वह सब दिगम्बर रूप में ही हैं। स्वयं श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर ऋषभदेव और महावीर ने दिगम्बर धर्म का उपदेश दिया था। उन ग्रन्थों में दिगम्बर वेश को अन्य वेशों से श्रेष्ठ बताते हुए यह भी कहा

---

1. (क) दिगम्बर सम्प्रदाय के विषय में अंग्रेजी विश्वकोषकार का निम्न कथन विशेष बोधप्रद है-

"The jains are divided into two great parties Digambers or sky clad ones and the Swetambers or the white robed ones. The latter have only as yet veen traced and that doubtfully as far back as the 5th century after Christ the former are almost certainty. The same as the Nirgranthas who are reffered to in numerous passage of Buddhist Pali Pitakas and must therefore be at least as old as 6th century B.C. The Nirgranthas are reffered to in one of Ashoka's edicts."

**- vide Ency. Brit. Eleventh, Vol. 15 Page 127**

(ख) श्री आर.सी. मजुमदार ने लिखा है ''जब भद्रबाहु के अनुयायी मगध लौटे तो एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। नियमानुसार जैन साधु नग्न रहते थे, किन्तु मगध के जैन साधुओं ने सफेद वस्त्र धारण करना प्रारम्भ कर दिया। दक्षिण भारत से लौटे हुए जैन साधुओं ने इसका विरोध किया, क्योंकि वे पूर्ण नग्नता को महावीर की शिक्षाओं का आवश्यक भाग मानते थे। विरोध का शान्त होना असम्भव पाया गया ओर इस तरह श्वेताम्बर (जिसके साधु सफेद वस्त्र धारण करते हैं) और दिगम्बर (जिसके साधु एकदम नग्न रहते हैं) सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। जैन समाज आज भी दोनों सम्प्रदायों में विभाजित है।'' **-प्राचीन भारत, पृ. 149**

(ग) केम्ब्रिज हिस्ट्री में भद्रबाहु के दक्षिण गमन का निर्देश करके आगे लिखा है ''यह समय जैन संघ के लिए दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता है और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ईस्वी पूर्व 300 के लगभग महान् संघ भेद का उद्भव हुआ, जिसने जैन संघ को श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में विभाजित कर दिया। दक्षिण से लौटे हुए साधुओं ने, जिन्होंने दुर्भिक्ष के काल में बड़ी कड़ाई के साथ अपने नियमों का पालन किया था, मगध में रह गए अपने अन्य साथी साधुओं के आचार से असन्तोष प्रकट किया तथा उन्हें मिथ्या विश्वासी और अनुशासनहीन घोषित किया।''

**-केम्ब्रिज हिस्ट्री आऊपे इंडिया ( हि.संस्करण 1955 ), पृ. 147**

(घ) विश्वेश्वरनाथ रेणु ने लिखा है- ''कुछ समय बाद जब अकाल निवृत्त हो गया और कर्नाटक के जैन लोग वापिस लौटे तब उन्होंने देखा कि मगध के जैन साधु पीछे से निश्चित किये गये धर्म ग्रन्थों के अनुसार श्वेत वस्त्र पहनने लगे, परन्तु कर्नाटक से लौटने वाले साधुओं ने इस बात को नहीं माना। इससे वस्त्र पहनने वाले साधु श्वेताम्बर और नग्न रहने वाले साधु दिगम्बर कहलाए।''

**-भारत के प्राचीन राजवंश, पृ. 41**

Scanned with OKEN Scanner

है कि भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ श्रमण और दिगम्बरत्व का प्रतिपादन किया था और आगामी तीर्थंकर भी उसका ही प्रतिपादन करेंगें।[1] वैदिक साहित्य और बौद्ध ग्रन्थों में दिगम्बर मुनियों के रूप में ही जैन धर्म का उल्लेख हुआ है। वेदों में वातरसना मुनियों के रूप में तो दिगम्बर मुनियों का उल्लेख मिलता ही है। उपनिषदों में दिगम्बरों को **"यथाजात रूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः शुक्ल-ध्यान परायणः"** लिखा है।[2] हिंदू पद्मपुराण में निर्ग्रन्थ साधुओं को नग्न कहा है।[3] वहाँ जैन धर्म की उत्पत्ति की कथा बताते हुए कहा है कि दिगम्बर मुनि द्वारा जैन धर्म की उत्पत्ति हुई।[4] वायु पुराण में जैन मुनियों को नग्नता के कारण श्राद्धकर्म में अदर्शनीय कहा है।[5] टीकाकार उत्पल और सायण ने भी निर्ग्रन्थों को नग्न क्षपणक माना है।[6] बौद्ध ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थों को अचेलक बताया है। विशाखवत्थु धम्मपदट्ठ कथा में निर्ग्रन्थ साधु का वर्णन नग्न रूप में मिलता है।[7] दाढ़ा वंशों में निर्ग्रन्थों को नग्नता के कारण अहिरिका (अदर्शनीय) कहा है। इसी प्रकार दीर्घनिकाय, मज्झिम निकाय, महावग्ग आदि बौद्ध ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थों के रूप में दिगम्बर साधुओं का उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में जैन साधु निर्ग्रन्थ कहलाते थे और वे नग्न रहते थे।[8]

श्वेताम्बर आचार्यों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने भी निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ मूलसंघ के अनुपालक दिगम्बर मुनि लिखा है। वे लिखते हैं- *निर्ग्रन्थ एतेन मूलसंघादिः दिगम्बराः*[9] अर्थात् "निर्ग्रन्थ"

---

1. "सजहानामाए अज्जोमए समणाण निग्गंथाणं नग्गभावे मुंड भावे अण्हाणए अदंतवणे अच्छत्तए अणुवाहणए भूमिसेज्जा फलग सेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरबासे लद्धाबलद्ध वित्तीओ जाव पण्णत्ताओ एवमेव महा पउमेवि रहा समणाणं णिग्गथाणं नग्गभावे जाव लद्धाबलद्ध वित्ताओ जाव पन्नवेहिंत्ति।"
   अर्थात् भगवान् महावीर कहते हैं कि श्रमण निर्ग्रंथ को नग्नभाव, मुंडभाव, अस्नान, दातौन नहीं करना, छत्र नहीं रखना, पगरखी नहीं पहनना, भूमि शैया, केशलोंच, ब्रह्मचर्य पालन, अन्य के गृह में भिक्षार्थ जाना, आहार की वृत्ति जैसे मैंने कही वैसे महापद्म अरहंत भी कहेंगे। - **ठाणा, पृ. 813/ देखें दि.दि. मुनि, पृ. 48-49**
2. यथाजात रूप धरो निर्ग्रन्थों निष्परिग्रह....शुक्लध्यान परायणः। **-सूत्र 6, जावालोपनिषद 5:130**
3. "अर्हंतो देवता यत्र निर्ग्रन्थों गुरुरुच्यते" **- हिंदू पद्म पुराण**
4. वृहस्पति सहाय्यार्थ विष्णुना मायामोह समुप्पादवमः
   दिगम्बरेण मायामोहदैत्यान् प्रति जैन धर्मोपदेशः दानवानां।
   माया मोह मोहितानां गुरुणां धर्म दीक्षा दानम्।
5. दि. दि. मुनि, पृ. 59
6. (क) निर्ग्रन्थो नग्नः क्षपणकः
   (ख) कथा कोपीनोत्तरा संगादिनाम त्यागिना, यथाजात रूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः इति सर्वत्र श्रुतिः।
7. दि.दि. मुनि. पृ. 50
8. दि. दि. मुनि, पृ. 46 से 59
9. प्रशम रति प्रकरण-8/142

Scanned with OKEN Scanner

इस शब्द का अर्थ मूलसंघ वाले दिगम्बर ही है। उन्होंने निर्ग्रन्थ प्राकृत रूप "णिग्गंठ" शब्द का अर्थ ही दिगम्बर कर दिया है। चूँकि तीर्थंकर महावीर आदि के लिए भी उनके अनेक ग्रन्थों में निर्ग्रन्थ (णिग्गंठ) विशेषण प्राप्त होता है, जिससे स्पष्ट होता है कि वे महावीर पर्यन्त संपूर्ण जैन तीर्थंकर परम्परा एवं उनकी परम्परा के "निर्ग्रन्थ श्रमणों" की मूलधारा को निःसंकोच दिगम्बर स्वीकार कर रहे हैं।

इतना ही नहीं विश्व की प्राचीनतम सभ्यता के रूप में परिगणित मो-अन-जो-दड़ो के पुरातात्त्विक अवेशषों से भी पता चलता है कि उस समय भी जैन श्रमण *"नग्न दिगम्बर"* ही होते थे। इस तथ्य को स्वीकारते हुए वर्तमान काल के प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य नथमल मुनि (आचार्य महाप्रज्ञ) जी लिखते हैं कि मो-अन-जो-दड़ो की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों की यह विशेषता है कि वे कायोत्सर्ग अर्थात् खड़ी मुद्रा में हैं, ध्यानलीन हैं और नग्न हैं।[1]

शिलालेखीय साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है। सम्राट् अशोक के धर्म लेखों में निग्गंथ (निर्ग्रन्थ) साधुओं का उल्लेख है। जिनका अर्थ प्रो. *जनार्दन भट्ट* "नग्नजैन साधु" करते है।[2] पाँचवीं शताब्दी में कदम्बवंशी नरेश मृगेश वर्मा ने अपने एक ताम्रपत्र में अर्हत् भगवान् और श्वेताम्बर महाश्रमण संघ तथा निर्ग्रन्थ अर्थात् दिगम्बर महाश्रमण संघ के उपभोग के लिए कालवंग नामक गाँव को भेंट करने का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उस काल के श्वेताम्बर भी अपने को निर्ग्रन्थ न कहकर दिगम्बर संघ को ही निर्ग्रन्थ मानते थे। यदि ऐसा नहीं था तो वे स्वयं को श्वेतपट तथा दिगम्बरों को निर्ग्रन्थ न लिखने देते।[3]

उक्त सन्दर्भों में दिगम्बरत्व की प्राचीनता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है।

## दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओं में भेद

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में सैद्धान्तिक रूप से कोई विशेष भेद नहीं है। जो कुछ भी है उसमें अधिकांश व्यावहारिक रूप में ही है। दोनों ही

---

1. अतीत का अनावरण पृ. 16
2. अशोक के धर्म लेख, पृ. 327
3. कदम्बनां श्री विजय शिवमृगेश वर्मा कालवगं ग्रामं विभज्यं दत्तवान् अत्रपूर्व्वमर्हच्छाला परम पृष्कलस्थान निवासिभ्यः भगवर्दहम्महाजिनेन्द्र देवताभ्य एकोभागः द्वितीयोऽर्हत्प्रोक्त सद्धर्मकरण परस्य श्वेतपट महाश्रमणं संघोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघोपभोगायेति.....। जैहि. भा. पृ. 229

सम्प्रदाय अहिंसा और अनेकान्तवाद का अनुसरण करते हैं। आत्मा-परमात्मा, मोक्ष और संसार आदि के स्वरूप के विषय में भी कोई भेद नहीं है। सात तत्त्वों का स्वरूप भी दोनों परम्पराओं में एक-सा ही वर्णित है। कुछ परिभाषाओं को छोड़कर कर्म सिद्धान्त में भी कोई मौलिक भेद नहीं है। जो कुछ भी भेद है वह आचारगत शिथिलता के करण ही उत्पन्न हुआ है। अपनी इसी शिथिलाचार पर आवरण डालने के लिए स्त्री-मुक्ति की कल्पना की गयी तथा सवस्त्र मुक्ति को सैद्धान्तिक रूप दिया गया। स्वयं श्वेताम्बर आगम के प्राचीन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर उनके उक्त बातों से विरोध आता है। इस विषय में पं. वेचरदासजी दोशी द्वारा रचित *''जैन साहित्य में विकार''* तथा पं. अजितकुमार शास्त्री कृत ''श्वेताम्बर मत समीक्षा'' दृष्टव्य हैं। वहाँ उन्होंने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। नीचे यहाँ कुछ श्वेताम्बर मान्यताओं का उल्लेख करते हैं, जो दिगम्बर मान्यता के विरुद्ध ठहरती हैं-

| श्वेताम्बर | दिगम्बर |
|---|---|
| 1. केवली कवलाहार (भोजन) करते हैं | नहीं करते हैं |
| 2. केवली को नीहार होता है | नहीं होता है |
| 3. सवस्त्र मुक्ति हो सकती है | मुक्ति के लिए दिगम्बर होना अनिवार्य है |
| 4. स्त्री मुक्ति प्राप्त कर सकती है | नहीं कर सकती है |
| 5. गृहस्थ वेश में मुक्ति सम्भव | नहीं, साधु होना अनिवार्य है |
| 6. मरुदेवी को हाथी पर चढ़े ही मुक्ति गमन | असम्भव |
| 7. भरत चक्रवर्ती को भवन में ही केवलज्ञान | असम्भव |
| 8. वस्त्राभूषणों से सुसज्जित प्रतिमा की पूजा | पूर्णतः दिगम्बर और वीतराग प्रतिमा ही पूजा योग्य |
| 9. मुनियों के वस्त्र पात्रादि 14 उपकरण | मुनि पूर्णतः अपरिग्रही रहते हैं |
| 10. तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्री होना, | स्त्री तीर्थंकर नहीं हो सकती |
| 11. भगवान् महावीर का गर्भ परिवर्तन हुआ | यह असम्भव कल्पना है |
| 12. महावीर का विवाह एवं कन्या का जन्म | नहीं हुआ |
| 13. मुनियों का अनेक गृहों से भिक्षा ग्रहण | एक दिन में एक ही बार |
| 14. मुनिगण अनेक बार भोजन ग्रहण करते हैं | एक ही स्थान पर खड़े-खड़े अपने हाथ में लेते हैं |
| 15. महावीर स्वामी को तेजो लेश्या | नहीं |
| 16. ग्यारह अंगों की मौजदूगी | अंग ज्ञान का लोप हो चुका है |

Scanned with OKEN Scanner

## उत्तरकालीन पन्थ भेद

मूलतः दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के रूप में विभाजित जैन संघ समय-समय में अनेक गण गच्छादि के रूप में विभाजित होता रहा, परन्तु इनसे जैन मान्यताओं एवं मुनि आचार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। यही कारण है कि उनमें से अधिकांश का आज नाम शेष रह गया है, जिनका परिचय हमें शास्त्रों से मिलता है। उत्तर काल में दोनों सम्प्रदायों में कुछ पन्थ भेद अवश्य हुए जो आज भी अपने किसी न सिकी रूप में अस्तित्व में हैं। विस्तार भय से यहाँ हम उनका संक्षिप्त परिचय देते हैं।

## दिगम्बर सम्प्रदाय

**भट्टारक पन्थ**- प्रारम्भ में सभी जैन साधु वनों और उपवनों में निवास करते थे तथा वर्षावास को छोड़कर शेष काल में वे एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरते थे। मात्र आहार चर्या हेतु वे शहरों में आते थे। धीरे-धीरे चौथी-चौथी-पाँचवीं शताब्दी में इनमें चैत्यवास (मंदिर निवास) की प्रवृत्ति बढ़ी। यह प्रवृत्ति दोनों सम्प्रदायों में एक साथ बढ़ी, जिसके फलस्वरूप श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वनवासी और चैत्यवासी गच्छ के रूप में मुनियों के दो भेद हो गए। पर, दिगम्बर सम्प्रदाय में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी यह निश्चित है कि उनमें भी चैतयवास की प्रवृत्ति हो चली थी। प्रारम्भ में चैत्यवास का प्रमुख उद्देश्य सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन और सृजन का था, किन्तु आगे चलकर वन-उपवन को छोड़कर इनमें नगरवास की ओर झुकाव बढ़ता गया। फिर भी उनकी मूलचर्या में कोई अन्तर नहीं आया। आचार्य गुणभद्र (नवमी सदी) ने मुनियों ने नगरवास को देखकर खेद प्रकट किया, परन्तु बढ़ती हुई चैत्यवास की प्रवृत्ति को एक वर्ग विशेष ने अपने जीवन का स्थायी आधार बना लिया। ये ही आगे चलकर मध्य काल के आते-आते भट्टारक पन्थ के जनक बने। इनके कारण अनेक मन्दिर भट्टारकों की गद्दियाँ एवं मठ आदि स्थापित हो गए तथा इनमें चैत्यवासी साधु मठाधीश बनकर स्थायी रूप से रहने लगे। इनका झुकाव परिग्रह और उपभोग के साधनों की ओर दिखाई देने लगा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो यह प्रवृत्ति पहले से ही पायी जाती थी, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय का यह वर्ग भी अब वस्त्र की ओर आकृष्ट होने लगा। इसका प्रारम्भ बसंत कीर्ति (13 वीं सदी) द्वारा मांडव दुर्ग (मांडवगढ़ मध्यप्रदेश) में किया गया।

Scanned with OKEN Scanner

भट्टारक प्रथा भी लगभग यहीं से प्रारम्भ हुई।[1] यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि दिगम्बर भट्टारक नग्न रूप को पूज्य मानते थे और दिगम्बर मूर्तियों का ही निर्माण कराते थे। साथ ही यथा अवसर दिगम्बर मुद्रा भी धारण करते थे। ये मठाधीश बनकर रहते थे तथा वहीं से ये तीर्थों एवं मठों की समस्त गतिविधियों का संचालन करते थे। पीठाधीश भट्टारकों के उत्तराधिकारी ही इन मठों के स्वामी होते थे।

कुछ विद्वान् भट्टारक परम्परा को एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानते हैं। मेरी दृष्टि में यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि भट्टारकों की मान्यता और सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं था। वस्त्र स्वीकारने के बाद भी वे दिगम्बर मुद्रा को ही अपना आदर्श मानते थे। स्वयं को मुनि की जगह भट्टारक कहने का भी यहीं कारण था। वस्तुतः भट्टारक-परम्परा मध्यकाल में मुगलों के बढ़ते प्रभाव एवं बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम था। उस विषम परिस्थिति में संस्कृति की रक्षा के लिए एक नये मार्ग का प्रवर्तन करना पड़ा।

इस प्रकार भट्टारकों के आचार में कुछ शैथिल्य तो आया, किन्तु दूसरी ओर उससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि इन भट्टारक गद्दियों और मठों में विशाल शास्त्र भण्डारों से युक्त अनेक विद्या केन्द्र स्थापित हो गये। मध्यकालीन साहित्य का सृजन प्रायः इसी प्रकार के केन्द्रों में हुआ। इसी उपयोगिता के कारण भट्टारक गद्दियाँ प्रायः सभी प्रमुख नगरों में स्थापित हो गयीं और मन्दिरों में भी अच्छा शास्त्र भण्डार रहने लगा। यहीं से प्राचीन शास्त्रों की लिपि प्रतिलिपि कराकर विभिन्न केन्द्रों में आदान-प्रदान किया जाने लगा। आज भी भट्टारक युग में प्रतिलिपि कराये गये अनेक प्राचीन ग्रन्थ जयपुर, व्यावर, जैसलमेर, ईडर, कारंजा, श्रवणबेलगोल, मूढ़बिद्री, कोल्हापुर आदि के बड़े-बड़े शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित हैं। जैन संघ और सम्प्रदाय को भट्टारकों की यह देन अविस्मरणीय है।

आज भट्टारकों का लगभग अभाव-सा हो गया है। मात्र दक्षिण भारत के कुछ प्रमुख स्थानों पर भट्टारकों की गद्दियाँ एवं मठ हैं जिनमें रहने वाले भट्टारक उन तीर्थों की समस्त गतिविधियों का संचालन करते हैं तथा उत्कृष्ट श्रावक के रूप में माने जाते हैं।

---

1. भट्टारक सम्प्रदाय विद्याधर जोहरापुरकर
विशेष के लिए देखें-जैन संघ और सम्प्रदाय (तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रन्थ, ग्वालियर)

Scanned with OKEN Scanner

## तेरह पन्थ और बीस पन्थ

इसी भट्टारक परम्परा के विरोध में विक्रम की सत्रहवीं सदी में पं. बनारसीदास ने एक नये पन्थ को जन्म दिया जो तेरह पन्थ कहलाया। इन्हें अपने आपको तेरह पन्थ कहने पर भट्टारकों के अनुयायियों ने अपने आपको बीस पन्थी कहना प्रारम्भ कर दिया। दोनों पन्थों में "तेरह" और "बीस" की संख्या के जुड़ने की समस्या आज तक अनसुलझी है। अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की उपपत्तियाँ दी हैं। इस सम्बन्ध में पं. जगन्मोहनलालजी की यह उपपत्ति कुछ हद तक ठीक जँचती है। इनके अनुसार "उस समय देश में भट्टारकों की बीस प्रमुख गद्दियाँ थीं। उन्हें अपना गुरु मानने वाले बीस पन्थी कहलाए तथा जो तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करने वाले शुद्धाचारी मुनियों के उपासक थे वे तेरह पन्थी कहलाये। वस्तुतः तेरह पन्थ और बीस पन्थ मतों में कोई खास भेद नहीं है, मात्र पूजा पद्धति में ही अन्तर है। बीस पन्थी भगवान् की पूजा में हरे फल, फूल आदि चढ़ाते हैं, जबकि तेरह पन्थी उन्हें नहीं चढ़ाकर चावल आदि सूखे पदार्थ ही चढ़ाते हैं।

## तारण पन्थ

पन्द्रहवीं शताब्दी में जिस समय मुस्लिम आक्रान्ताओं ने जैन मूर्तिकला और स्थापत्य पर काफी आघात पहुँचा दिया था, उसी समय एक तारण तरण नाम के व्यक्ति ने इस पन्थ को जन्म दिया, जो आगे चलकर सन्त तारण स्वामी के नाम से ख्यात हुए। यह पन्थ मूर्ति पूजा के विरोध में उत्पन्न हुआ। सन्त तारणतरण के द्वारा प्ररूपित होने के कारण यह पन्थ तारण पन्थ के नाम से ख्यात हुआ। सन्त तारण ने चौदह ग्रन्थों की रचना की। इनके अनुयायी मूर्ति पूजा नहीं करते हैं। ये अपने चैत्यालयों में विराजमान शास्त्रों की पूजा करते हैं। इनके यहाँ सन्त तारण द्वारा रचित ग्रन्थों के अतिरिक्त दिगम्बर जैनाचार्यों के ग्रन्थों की भी मान्यता है तथा ये दिगम्बर मुनियों को ही अपना आदर्श गुरु मानते हैं। सन्त तारण का प्रभाव मध्य प्रदेश के ही कुछ क्षेत्रों तक सीमित रहा, जहाँ इनके अनुयायी आज भी हैं। इनकी संख्या दिगम्बरों की अपेक्षा अत्यल्प है।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में पन्थ-भेद होने के बाद भी उनमें किसी प्रकार का विद्वेष, वैषम्य नहीं पाया जाता। सब एक-दूसरे से घुले-मिले हैं। इनकी आचार परम्परा लगभग एक सी है। सभी दिगम्बर प्रतिमा तथा तीर्थों को आदर्श

Scanned with OKEN Scanner

मानते हैं तथा दिगम्बर गुरुओं की उपासना करते हैं। दिगम्बर जैन पूरे भारतवर्ष के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं। उसमें भी मध्यप्रदेश, गुजरात, उत्तरप्रदेश, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान तथा दक्षिण में महाराष्ट्र एवं कर्नाटक दिगम्बर जैनियों के गढ़ हैं। इसके अतिरिक्त बिहार, पश्चिम बंगाल एवं असम में भी दिगम्बर जैनों की काफी संख्या है।

### श्वेताम्बर सम्प्रदाय

श्वेताम्बर संघ में निम्नलिखित प्रधान सम्प्रदाय उत्पन्न हुए-

### चैत्य वासी

चैत्यवासी सम्प्रदाय की स्थापना वीर निर्वाण संवत् 850 के लगभग हुई। कुछ शिथिलाचारी मुनियों ने उग्र विहार को छोड़कर मन्दिरों में रहना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ती गई और आगे चलकर एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय बन गया। इस सम्प्रदाय के साधु वनों को छोड़कर चैत्यों/मन्दिरों में निवास करने के साथ ग्रन्थ संग्रह के लिए आवश्यक द्रव्य भी रखने लगे। इसी के पोषण में उन्होंने निगम नामक शास्त्रों की भी रचना की। हरिभद्रसूरि ने अपने सम्बोध प्रकरण में इन चैत्यवासी साधुओं की कड़ी आलोचना की है। समय-समय पर इन दोनों समुदायों के बीच शास्त्रार्थों और विवादों का भी उल्लेख मिलता है।[1]

चैत्यवासी पैंतालीस आगमों को स्वीकार करते हैं। श्वेताम्बरों में आज जो "जती" या "श्रीपूज्य" कहलाते हैं, वे मठवासी या चैत्यवासी शाखा की ही सन्तान हैं तथा जो संवेगी मुनि कहलाते हैं वे वनवासी शाखा के हैं। संवेगी अपने को सुविहित मार्गी या विधि मार्ग का अनुयायी कहते हैं।

### स्थानकवासी

स्थानकवासी सम्प्रदाय की उत्पत्ति चैत्यवासी सम्प्रदाय के विरोध में हुई। पन्द्रहवीं शताब्दी में अहमदाबादवासी मुनि ज्ञानश्री के शिष्य "लोकाशाह" इस पन्थ के जनक बने। उन्होंने मूर्ति-पूजा एवं साधु समाज में प्रचलित आचार-विचार को आगम-विरुद्ध बताकर उनका विरोध किया। इसे लोकागच्छ नाम दिया गया। उत्तरकाल में सूरत निवासी एक साधु ने लोकागच्छ की आचार परम्परा में कुछ सुधार कर ढुँढिया मत की स्थापना की।

---

1. देखें, जैन धर्म, पण्डित कैलाशचन्द्र, पृ. 318

Scanned with OKEN Scanner

लोकागच्छ के सभी अनुयायी इस सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गए। ये लोग अपना धार्मिक क्रिया-कर्म मन्दिरों में न करके स्थानकों (गुरुओं के निवास स्थान) या उपाश्रम में करते हैं। इसीलिए इन्हें स्थानकवासी कहा जाता है। इस सम्प्रदाय को साधुमार्गी सम्प्रदाय भी कहते हैं। ये लोग तीर्थयात्राओं में विशेष विश्वास नहीं रखते हैं। इनके साधु श्वेत वस्त्र पहनते हैं तथा मुख पर पट्टी बाँधते हैं। इनके यहाँ बत्तीस आगमों की ही मान्यता है।

**तेरा पन्थ**

स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधुओं में आगे चलकर कुछ शिथिलता आने लगी। आचार-विचार में बढ़ती हुई शिथिलता के कारण श्रावकों में उसकी तीखी प्रतिक्रिया होने लगी तथा भिक्षुओं के प्रति श्रावकों की श्रद्धा भी डगमगाने लगी थी। यह सब देखकर स्थानकवासी सम्प्रदाय में ही दीक्षित आचार्य "भिक्षु" (जन्म 1783 कंटालियां, जोधपुर) ने वि.सं. 1817 चैत्र शुक्ल नवमीं के दिन अपने पृथक् संघ की स्थापना कर ली। ऐसा कहा जाता है कि इस अवसर पर उनके साथ तेरह साधु और तेरह श्रावक थे। इसी संख्या के आधार पर इस सम्प्रदाय का नाम तेरा पन्थ रख दिया गया। कुछ लोग तेरा पन्थ से यह आशय भी निकालते हैं कि भगवान् यह तुम्हारा ही मार्ग है जिस पर हम चल रहे हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय की तरह इस सम्प्रदाय में भी 32 आगमों को ही प्रामाणिक माना जाता है। इस सम्प्रदाय में एक ही आचार्य होता है और उसी का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होता है।

इस प्रकार मूर्तिपूजक-मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी और तेरापन्थ नामक तीन सम्प्रदायों में विभक्त श्वेताम्बर सम्प्रदाय भारत के विभिन्न भागों में फैला हुआ है। गुजरात, राजस्थान एवं पंजाब में इनकी विशेष संख्या है। फिर भी दिगम्बर जैनों की अपेक्षा इनकी संख्या आधी से भी कम है।

---

जैन धर्म एवं उसके विभिन्न संघो/सम्प्रदायों का यह संक्षिप्त इतिहास है। इनकी विस्तृत जानकारी एवं उत्तरकालीन इतिहास के लिए देखें- 'भारतीय इतिहास एक दृष्टि'

Scanned with OKEN Scanner